

हिन्दू चिंतन परम्परा में आत्मा का अनुभूतिमूलक स्वरूप : एक दार्शनिक अन्वेषण

अजीत पति तिवारी

शोधार्थी

दर्शनशास्त्र विभाग

दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय

गोरखपुर, उत्तर प्रदेश

Abstract:

भारतीय दर्शन में 'आत्मा' की अवधारणा केवल एक दार्शनिक विचार नहीं, बल्कि जीवन, अस्तित्व और मोक्ष के मूल प्रश्नों से जुड़ी हुई चेतना की परिकल्पना है। हिन्दू धर्म में आत्मा को शाश्वत, अविनाशी, सर्वव्यापी और ब्रह्म से अभिन्न सत्ता माना गया है। यह न तो केवल शरीर है, न ही मन या बुद्धि, बल्कि उन सबका आधारभूत तत्त्व है। प्रस्तुत शोध-पत्र में आत्मा की इस अवधारणा का दार्शनिक विवेचन वेदान्तिक, उपनिषदिक एवं गीता के आलोक में किया गया है। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि आत्मा का बोध केवल ज्ञान का विषय नहीं, बल्कि अनुभव का भी विषय है जो मनुष्य को मुक्तता, शांति और आनंद की ओर ले जाता है।

Keywords: आत्मा, ब्रह्म, आत्मानुभूति, आत्म-चेतना, अविद्या, मोक्ष।

भारतीय चिंतन में आत्मा की अवधारणा वैदिक युग से ही क्रमशः विकसित होती दिखती है; प्रारम्भिक वैदिक संहिताओं में जहाँ जीवन-शक्ति (प्राण), ऋत और यज्ञ-केन्द्रित विश्व-व्यवस्था पर बल दिया गया है, वहीं उपनिषदों में आत्मा का सूक्ष्म, अद्वैताभिमुख प्रतिपादन मिलता है। महावाक्यों- "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि", "प्रज्ञानं ब्रह्म", "अयमात्मा ब्रह्म" के माध्यम से आत्मा की ब्रह्म से अभिन्नता की उद्घोषणा, आत्मानुभूति को ज्ञान-मुक्ति की शिखरावस्था के रूप में स्थापित करती है। भगवद्गीता वैदिक-अनुभव और उपनिषदिक-चिन्तन के बीच सेतु बनकर आत्मा की अजन्मा, अविनाशी, सर्वव्यापी सत्ता का व्यावहारिक प्रतिपादन कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्गों के समन्वय से करती है। उत्तरोत्तर ब्रह्मसूत्र-भाष्य परम्परा में शंकर, रामानुज, मध्व आदि आचार्यों ने आत्मा-ब्रह्म सम्बन्ध, जीव-ईश्वर-प्रकृति की त्रयी और मोक्ष-साधन के विविध रूपों को विधिवत् प्रणालीबद्ध किया। इस ऐतिहासिक अनुक्रम से स्पष्ट होता है कि आत्मा की संकल्पना केवल आध्यात्मिक अनुभूति नहीं, बल्कि वाङ्मयिक परम्परा में सुसंगठित, बहुस्तरीय तात्त्विक विमर्श का विषय है। वहीं "हिन्दू धर्म में आत्मा एक आध्यात्मिक तत्व है, जो शरीर से भिन्न है। शरीर जन्म लेता है और मरता है। आत्मा देश-काल से परे अमर और अजन्मा है। शरीर में आबद्ध होने पर वह जीवात्मा है, जीवात्मा ईश्वर का ही अंश है। तात्त्विक रूप में आत्मा अनन्त और नित्य है।"¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय चिंतन परम्परा में आत्मा का प्रश्न सदैव केन्द्रीय रहा है। आत्मा का विचार केवल धार्मिक या पौराणिक विषय नहीं, बल्कि अस्तित्व के मूल स्वरूप का दार्शनिक अन्वेषण है। प्राचीन ऋषियों ने जब “कोऽहम्?” - “मैं कौन हूँ?” - का प्रश्न किया, तो उसका उत्तर उन्हें बाह्य जगत् में नहीं, बल्कि अपने भीतर मिला। यही आत्मानुभूति भारतीय दर्शन की आत्मा बन गई। आत्मा का विचार मानव जीवन के उन मूल प्रश्नों से जुड़ा है जो सदा अनुत्तरित या असंतोषजनक रहे हैं- “जीवन क्या है?”, “मृत्यु के बाद क्या?”, “मनुष्य का सत्य स्वरूप क्या है?”। हिन्दू धर्म में इन प्रश्नों का उत्तर आत्मा की पहचान में निहित है। जब तक मनुष्य स्वयं को केवल शरीर और मन मानता है, तब तक वह असंतोष और दुःख में बंधा रहता है; परन्तु जैसे ही वह अपनी वास्तविक चेतन सत्ता को पहचानता है, उसके लिए संसार का अर्थ बदल जाता है।

“भारतीय दर्शन में आत्मा के संबंध में चार मत हैं। चार्वाक के अनुसार चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। यह जड़वादी मत है। बौद्धों के अनुसार आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है। अद्वैत-वेदांत के अनुसार आत्मा एक है, नित्य है एवं स्वप्रकाश-चैतन्य है। आत्मा न तो ज्ञाता है, न ज्ञेय है और न ‘अहम्’ ही है। विशिष्टाद्वैत-वेदांत के अनुसार आत्मा केवल चैतन्य नहीं है, बल्कि ज्ञाता है जिसे अहम् कह सकते हैं।”² सम्भवतः यही कारण है कि हिन्दू धर्म दर्शन में आत्मा की संकल्पना केवल दार्शनिक विचार-विमर्श का विषय नहीं, बल्कि यह मानव अस्तित्व, चेतना और मुक्ति के गहन आध्यात्मिक प्रश्नों से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। आत्मा को व्यक्ति के मूल स्वरूप, उसकी अंतर्निहित चेतना और ब्रह्म से संबद्ध उस तत्त्व के रूप में परिभाषित किया गया है जो नित्यमुक्त, अविनाशी और सर्वव्यापक है। वह न तो स्थूल शरीर है, न मन की प्रवृत्तियाँ, न ही बुद्धि का सीमित परिमाण-वरन् उन सबका आधारभूत तत्त्व है, जो स्वयं में स्वप्रकाश और शाश्वत है। जब मनुष्य अपने को केवल शरीर, मन या इन्द्रिय-प्रवाह तक सीमित मान लेता है, तब वह जन्म-मरण के अनादि चक्र में बंध जाता है और असंतोष, दुःख तथा आसक्ति के बन्धनों में उलझा रहता है। उसका चित्त बाह्य सुखों की अनन्त खोज में भटकता है, किन्तु वह स्थायी संतोष नहीं पा पाता। परन्तु जब वह अपने अंतराल में स्थित उस शुद्ध चेतन सत्ता- जिसे हिन्दू धर्म में ‘आत्मा’ कहा गया है- का साक्षात्कार करता है, तब उसके भीतर यह बोध उत्पन्न होता है कि उसका वास्तविक स्वरूप सीमित देह या मन नहीं, बल्कि असीम, दिव्य और सर्वव्यापक चेतना है। आत्मा किसी स्थान, रूप या काल की सीमा में आबद्ध नहीं होती; वह न केवल ज्ञाता है, न ज्ञेय, न ही ‘अहंभाव’ की संकुचित अनुभूति। वह स्वयं में परिपूर्ण, स्वतःप्रकाशित और ब्रह्म के साथ अभिन्न तत्त्व है। आध्यात्मिक साधना का वास्तविक प्रयोजन इसी आत्मतत्त्व की प्रत्यक्ष अनुभूति है- उस शुद्ध चेतना का साक्षात्कार जो शरीर और मन की परिधि से परे

विद्यमान है। जब व्यक्ति ध्यान, विवेक और आत्म-अनुशीलन के माध्यम से अपने अंतर्मन में अवगाहन करता है, तब वह इस सत्य को अनुभव करता है कि वह केवल 'जीव' नहीं, बल्कि उस परम चैतन्य सत्ता का अंश है, जो अनन्त, अविकारी और अविनाशी है। यह अनुभूति केवल बौद्धिक बोध नहीं, बल्कि एक जीवंत, अनुभूतिमूलक सत्य है। इस अनुभूति की अवस्था में प्रकृति और उसकी वृत्तियों का प्रभाव क्षीण हो जाता है; व्यक्ति बाह्य विषयों से विमुख होकर अंतःशांति और आनन्द की ओर उन्मुख होता है जहाँ आत्मा का निवास-स्थान है। यह आत्मा की मुक्तावस्था है जिसे भारतीय सन्दर्भ में मुक्त जीव कहा गया है। "मुक्त जीव उन आत्माओं को कहा जाता है जो कभी बन्धन ग्रस्त थे परन्तु अब मुक्त हो चुके हैं। जनक, वशिष्ठ इस कोटि के जीव कहे जा सकते हैं।"³

हिन्दू धार्मिक और दार्शनिक चिंतन में आत्मा केवल आध्यात्मिक जिज्ञासा का केन्द्र नहीं, बल्कि अस्तित्व के परम तत्त्व की खोज है। वेदान्तिक परम्पराएँ आत्मा को दैहिक, मानसिक और अन्य सीमाओं से परे एक ऐसी सत्ता के रूप में देखती हैं, जो साक्षी, नियामक और शाश्वत है। इस आत्मा की अनुभूति और उसकी मुक्ति के साधनों को लेकर भारतीय दर्शन में विविध दृष्टिकोण विकसित हुए। वहीं षड्दर्शन के विकसित व व्यवस्थित रूप के पूर्व "उपनिषदों में आत्मतत्त्व अजर, अमर, चैतन्य, निर्विकार तत्त्व है। जिसे हम मैं कहते हैं उससे यह सर्वथा पृथक् तत्त्व है। भौतिक शरीर में रहते हुए भी यह उससे, यथा, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों से भी पृथक् है।"⁴ वह 'अहम्' के सीमित अनुभव से भी परे है और प्रत्येक जीव में विद्यमान एक केन्द्रीय चेतन शक्ति के रूप में कार्य करती है। आत्मा न उत्पन्न होती है, न नष्ट; वह केवल साक्षी है- जीवन के समस्त अनुभवों की निःस्पृह साक्षी। वह व्यक्तिगत विकास की अधिष्ठात्री शक्ति है, किन्तु स्वयं परिवर्तनशील नहीं। इस दृष्टिकोण से आत्मा मात्र चेतना का प्रतीक नहीं, बल्कि अनन्त ऊर्जा और स्वप्रकाशित सत्ता का मूर्तरूप है- एक ऐसी सत्ता जो ईश्वर से अंतःसंबद्ध रहते हुए भी अपनी स्वतंत्र अखंडता को धारण करती है। आत्मा का स्वरूप न तो द्वैतयुक्त है और न ही भौतिक सीमाओं में बंधा है; वह 'अद्वितीय' होते हुए भी अनन्त रूपों में अभिव्यक्त होती है। आत्मा की यह दिव्यता उसे एक अद्भुत सामंजस्य प्रदान करती है- जहाँ वह एकत्व और बहुत्व, दोनों में एक साथ विद्यमान रह सकती है। अपने वैयक्तिक भाव में वह परमात्मा के साथ ऐक्य का अनुभव करती है, जबकि सार्वभौमिक स्तर पर समस्त जीवों के साथ समरसता स्थापित करती है। यही अनन्त ऐक्य उसकी शाश्वत पूर्णता और आनन्दमय स्वरूप का दार्शनिक प्रमाण है। वास्तव में, आत्मा अपनी सारतत्त्व में एकत्व में केंद्रित है, किन्तु अभिव्यक्ति में विविधता ग्रहण करती है। इसीलिए भारतीय चिंतन आत्मा को न स्थिर इकाई मानता है, न परिवर्तनशील सत्ता, बल्कि 'सत्य-चित्-आनन्द' के रूप में एक गतिशील एकता। जब तक मनुष्य इस आत्मतत्त्व

का साक्षात्कार नहीं करता, उसका जीवन बाह्य जगत् के आकर्षणों से संचालित होता है। वह सुख और संतोष की खोज में विषय-वस्तुओं, संबंधों और उपलब्धियों की ओर दौड़ता रहता है; परंतु यह सुख क्षणभंगुर होता है और अंततः असंतोष, व्यग्रता तथा शून्यता की अनुभूति छोड़ जाता है। यही कारण है कि आत्मा के बोध के बिना मानव मन निरंतर अतृप्त और अस्थिर बना रहता है क्योंकि वास्तविक शांति बाह्य वस्तुओं में नहीं, आत्मा की अंतःप्रज्ञा में निहित है।

उपरोक्त सन्दर्भों के आलोक में यदि हिन्दू धर्म की दृष्टि से मानव जीवन पर विचार किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि मानव अस्तित्व एक बहुस्तरीय संरचना है, जो शरीर, मन, बुद्धि, भाव और आत्मा के विभिन्न स्तरों पर क्रियाशील है। यह अस्तित्व केवल भौतिक या मानसिक आयामों तक सीमित नहीं, बल्कि एक अंतःस्थ चेतन सत्ता से प्रेरित है, जो संपूर्ण जीवन का आधार है। जब मनुष्य आत्मज्ञान की दिशा में अग्रसर होता है, तो उसे यह अनुभूति होती है कि उसका सत्य स्वरूप किसी भौतिक शरीर में आबद्ध सत्ता नहीं, बल्कि एक सर्वव्यापक और अमूर्त तत्त्व है। सम्भवतः इसी कारण हम देखते हैं कि "हिन्दू धर्म के अधिकतर अनुयायी आत्मा की अमरता में दृढ़तापूर्वक विश्वास करते हैं, क्योंकि चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शनों, उपनिषदों, भगवद्गीता, स्मृतियों, पुराणों और धर्मशास्त्रों में आत्मा की अमरता को स्वीकार किया गया है। उपनिषदों में हमें आत्मा के स्वरूप और उसकी अमरता के विषय में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।"⁵ यह आत्मा न तो उत्पन्न होती है और न ही इसका क्षय होता है; वह नित्य, अजन्मा और अपरिवर्तनशील है। उसका शरीर से सम्बन्ध मात्र उपाधि का है, जो अविद्या अर्थात् अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ है। यह अविद्या ही व्यक्ति को सीमितता, दुःख और असंतोष के अनुभव में बाँध देती है, जिससे वह अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर देता है। किन्तु जब यह अज्ञान दूर होता है, तब आत्मा का स्वरूप अपने शुद्ध प्रकाश में प्रकट होता है। व्यक्ति तब जानता है कि वह कोई पृथक् जीव नहीं, बल्कि उसी परम चैतन्य का अंश है, जो ब्रह्म के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। जैसे समुद्र की लहरें सागर से उत्पन्न होकर अंततः उसी में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही आत्मा का अंतिम गंतव्य भी ब्रह्म में लय है। आत्मा और ब्रह्म की यह एकात्मता ही मोक्ष का स्वरूप है- एक ऐसी स्थिति जिसमें व्यक्तित्व का भेद मिट जाता है और व्यक्ति स्वयं को ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से अनुभव करता है। यह अनुभव न केवल दार्शनिक बोध है, बल्कि अस्तित्वगत सत्य का साक्षात्कार है, जिसमें "मैं" और "वह" के बीच का अंतर लुप्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मा की अवधारणा भारतीय दर्शन और आध्यात्मिक परम्परा के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। आत्मा की प्रत्यभिज्ञा अर्थात् स्वयं को पहचानने का यह बोध, भारतीय चिंतन में मानव जीवन का

परम उद्देश्य माना गया है। जब व्यक्ति आत्मचेतना का अनुभव करता है, तब उसे यह बोध होता है कि वह केवल शरीर या मन नहीं, बल्कि तत्त्वरूप से स्वयं ब्रह्म है। यही आत्मा का सत्य है, और यही सत्य भारतीय दर्शन की आत्मा तथा उसके समस्त तत्त्वचिंतन की आधारशिला है।

भारतीय चिन्तन परम्परा में आत्मा का तुलनात्मक स्वरूप :

दर्शन परम्परा	आत्मा का स्वरूप	आत्मानुभव/ मुक्ति
▪ अद्वैत वेदान्त	आत्मा और ब्रह्म अभिन्न, एक ही सत्ता	अविद्या के नाश से आत्मा का ब्रह्मरूप अनुभव
▪ विशिष्टाद्वैत वेदान्त	आत्मा ब्रह्म की अंशभूत सत्ता	आत्मा ईश्वर में विलीन नहीं, बल्कि उसमें नित्य आश्रित
▪ द्वैत वेदान्त	आत्मा और परमात्मा सदा भिन्न	आत्मा सीमित, ईश्वर अनन्त; मोक्ष में भी भेद बना रहता है
▪ सांख्य दर्शन	पुरुष असंख्य, चेतन, निष्क्रिय साक्षी	आत्मा (पुरुष) और प्रकृति के भेद का बोध ही मोक्ष
▪ योग दर्शन	आत्मा शुद्ध साक्षी चैतन्य	चित्तवृत्ति निरोध से आत्मा की साक्षी स्थिति का अनुभव
▪ न्याय-वैशेषिक	आत्मा द्रव्य, चेतन, अनुभवकर्ता	सभी का द्रष्टा, सभी का भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य तथा सर्वव्यापक
▪ बौद्ध दर्शन	अनात्म सिद्धान्त – स्थायी आत्मा का निषेध	‘अनत्ता’ सिद्धान्त – आत्मा एक क्षणिक प्रवाह मात्र
▪ जैन दर्शन	आत्मा नित्य, स्वतंत्र चेतन सत्ता	आत्मा कर्माश्रय से बँधी है; कर्म-क्षय से मोक्ष प्राप्त

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आत्मा की अवधारणा हिन्दू धर्म व दर्शन का केन्द्रीय स्तंभ है। यह मनुष्य के अस्तित्व, चेतना और मुक्ति के प्रश्नों का गूढ़ उत्तर प्रदान करती है। आत्मा न तो भौतिक सत्ता है, न केवल मानसिक प्रक्रिया; वह शुद्ध चैतन्य है, जो ब्रह्म से अभिन्न है। जब मनुष्य इस आत्मा को पहचानता है, तब वह सीमितता, दुःख और भ्रम से मुक्त होकर अपने दिव्य स्वरूप को प्राप्त करता है। यही आत्म-साक्षात्कार हिन्दू धर्म के अनुसार जीवन का परम उद्देश्य है। आत्मा की पहचान का यह मार्ग ज्ञान, ध्यान और भक्ति से होकर गुजरता है और अंततः उस स्थिति तक पहुँचाता है जहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों एक हो जाते हैं।

सन्दर्भ (References) :

- ¹ मिश्र डॉ० हृदय नारायण: विश्व धर्म, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद 2011 पृ० - 16
- ² चटर्जी एवं दत्त: भारतीय दर्शन, पुस्तक भंडार पब्लिशिंग हाउस, पटना, 1994 पृ० - 210
- ³ सिन्हा, डॉ० हरेन्द्र प्रसाद: धर्म-दर्शन की रूप-रेखा (द्वितीय खण्ड), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2009 पृ० - 99

⁴ निगम, डॉ. शोभा: भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2011 पृ0 - 40

⁵ वर्मा, वेद प्रकाश: धर्मदर्शन की मूल समस्याएं, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 2000 पृ0 - 320